

दलित आंदोलन के लिए गाँधी–आम्बेडकर बहस के सबक़

निशिकांत कोलगे

अनुवाद : तुषार कांत

सामाजिक न्याय के कुछ पैरोकारों ने हमें बताया है कि जाति-व्यवस्था के ख़िलाफ़ अभियान में ज़रूरी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए गाँधी और आम्बेडकर में से किसी एक के ही सिद्धांत पर चलना आवश्यक होगा। लेकिन, इस लेख में बताया गया है कि वर्तमान परिस्थितियाँ जाति-व्यवस्था ख़त्म करने से जुड़े दलित आंदोलन की बुनियादी मान्यताओं में संशोधन की माँग करती हैं। आंदोलन में क्रांतिकारी रणनीति की मौजूदा ज़रूरतों को पूरा करने के लिए यह संशोधन किया जाना चाहिए। इस संशोधन के तहत गाँधी और आम्बेडकर के विचारों को एक ही दायरे में समाहित किया जा सकता है।

गाँधी और आम्बेडकर के विचारों का संयुक्त अध्ययन मौजूदा वक़्त की ज़रूरत है। साथ ही, इस लेख में यह तर्क

भी पेश किया गया है कि दलित आंदोलन में समकालीन भारत की ठोस हक़ीक़त को छिपा कर गाँधी को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। इसके बजाय गाँधी–आम्बेडकर के विचारों से प्रेरणा लेकर जाति–व्यवस्था को ख़त्म करने से जुड़े लम्बे संघर्ष की दिशा में कुछ ठोस पहल करने की ज़रूरत है।

लेख के मुताबिक़, दलित आंदोलन अब तक ऐसा करने में विफल रहा है और यह इस आंदोलन की कमी है। यह लेख इस दिशा में बहस की शुरुआत करते हुए इस कमी को दूर करने का प्रयास करता है।

भूमिका

गाँधी–आम्बेडकर बहस की पड़ताल का प्रयास उतना ही पुराना है जितना गाँधी और आम्बेडकर का जीवन। इस सिलसिले में धनंजय कीर से लेकर अरुंधति रॉय तक लम्बी और समृद्ध परम्परा रही है। ज़ाहिरा तौर पर इन प्रयासों से इस विषय पर हमारी समझ लगातार बेहतर हुई है। गाँधी और आम्बेडकर के बीच संबंधों के बारे में हमारी समझ विकसित करने में इन विद्वानों का बड़ा योगदान है। हालाँकि, इस बारे में हमारी समझ सीमित करने के लिए भी इन विद्वानों को दोषी ठहराया जा सकता है। जहाँ तक गाँधी–आम्बेडकर विवाद का सवाल है, तो इन विद्वानों में से बमुश्किल से एकाध ऐसे होंगे, जिन्होंने दलित आंदोलन के भविष्य की रूपरेखा तैयार करने या इस आंदोलन के आंतरिक विरोधाभासों को दूर करने में इस आंदोलन के दृष्टिकोण से इस पूरी बहस को समझने की पहल की हो। दरअसल, यह न सिर्फ़ अकादमिक विफलता है, बल्कि दलित आंदोलन के दृष्टिकोण से बड़ी भूल भी है।

बहरहाल, डी.आर. नागराज का अपने बहुचर्चित लेख 'सेल्फ प्यूरिफ़िकेशन वर्सेज सेल्फ रेस्पेक्ट : ऑन द रूट्स ऑफ़ दलित मूवमेंट' में यह कहना बिल्कुल सही है कि '... दलित आंदोलन जिस विचार से पैदा हुआ, वह अछूतों की समस्याओं से निपटने में गाँधीवादी मॉडल को सिरे से ख़ारिज करने में यक़ीन रखता था और इसी मान्यता के आधार पर इस आंदोलन का पूरा ख़ाका तैयार हुआ। हालाँकि, आज ऐतिहासिक परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं। ऐसे में हमें आंदोलन की बुनियाद तैयार करने वाली शक्तियों और ढाँचे की फिर से पड़ताल करने को मजबूर होना पड़ा है।' साथ ही, हमें ऐसा नहीं मानना चाहिए कि जाति और उसे ख़त्म करने की शर्तों को लेकर आम्बेडकर की राय अंतिम है, जैसा कि कुछ दलित विद्वान मानते हैं। दरअसल, इस तरह की राय कुछ उसी तरह से अनुचित है, जिस तरह से यह मान लेना कि स्वतंत्रता आंदोलन में सिर्फ़ गाँधी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। इस तरह की धारणा आलोचनात्मक सोच के बारे में आम्बेडकर द्वारा की गयी अपील का भी अपमान होगी। आम्बेडकर की इस अपील पर अमल करने का सबसे बेहतर तरीक़ा यह हो सकता है कि आम्बेडकर के गहन विचारों और अंतर्दृष्टि को गाँधी जैसे अन्य नेताओं और विचारकों के ज़रिये और समृद्ध किया जाए। हमें दलित आंदोलन के दृष्टिकोण से गाँधी–आम्बेडकर बहस की फिर से पड़ताल करनी होगी, ताकि इससे आंदोलन के लिए कुशल और रणनीतिक सूत्र मिल सके। यह न सिर्फ़ आलोचनात्मक सोच के बारे में आम्बेडकर की अपील पर अमल करने के लिहाज़ से ज़रूरी है, बल्कि इसलिए भी ज़रूरी है कि अलग–अलग ताक़तों द्वारा गाँधी की ग़लत व्याख्या न की जाए।

दलित आंदोलन गाँधी–आम्बेडकर बहस को आंदोलन के लिए कुशल और रणनीतिक सूत्र प्राप्त करने के माध्यम के तौर पर नहीं देखता। अलग–अलग ताक़तों द्वारा जाति–व्यवस्था का बचाव करने वाले शख़्स के तौर पर गाँधी की ग़लत छवि पेश करने की एक महत्त्वपूर्ण वजह यह भी है। अतः, मौजूदा लेख दलित आंदोलन के दृष्टिकोण से गाँधी–आम्बेडकर बहस की फिर से पड़ताल करने की कोशिश करता है। इसका मक़सद यह पता लगाना है कि क्या इस बहस से दलित आंदोलन से जुड़ी कुछ समस्याओं से निपटने की दिशा में किसी तरह का सुझाव हासिल किया जा सकता है। इस लेख का मक़सद उपयोगितावादी है। इसका मतलब है कि लेख में सिर्फ़ ज़रूरी सिद्धांतों या गाँधीवाद और

हमें ऐसा नहीं मानना चाहिए कि जाति और उसे ख़त्म करने की शर्तों को लेकर आम्बेडकर की राय अंतिम है, जैसा कि कुछ दलित विद्वान मानते हैं। दरअसल, इस तरह की राय कुछ उसी तरह से अनुचित है, जिस तरह से यह मान लेना कि स्वतंत्रता आंदोलन में सिर्फ़ गाँधी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। इस तरह की धारणा आलोचनात्मक सोच के बारे में आम्बेडकर द्वारा की गयी अपील का भी अपमान होगी। आम्बेडकर की इस अपील पर अमल करने का सबसे बेहतर तरीक़ा यह हो सकता है कि आम्बेडकर के गहन विचारों और अंतर्दृष्टि को गाँधी जैसे अन्य नेताओं और विचारकों के ज़रिये और समृद्ध किया जाए।

आम्बेडकरवाद के उन पहलुओं के बारे में बात की जाएगी जो जाति-व्यवस्था को ख़त्म करने की प्रक्रिया के लिए आवश्यक हैं। हमारा इरादा दोनों विचारों की पूरी तरह से तुलना नहीं बल्कि सिर्फ़ उन पहलुओं पर ग़ौर करना है जो जाति-व्यवस्था ख़त्म करने की प्रक्रिया से संबंधित हैं।

वर्तमान व्याख्या

जाति-व्यवस्था से निपटने के आम्बेडकर के तौर-तरीक़ों की प्रासंगिकता पर बहस हो सकती है। हालाँकि, जाति-व्यवस्था को ख़त्म करने की उनकी नीयत और ईमानदारी पर सवाल नहीं उठाया जा सकता। ज़्यादातर विद्वानों का मानना है कि आम्बेडकर की राय में जाति-व्यवस्था में सत्ता, प्रभुत्व और जातिगत पदानुक्रम (श्रेष्ठता-हीनता की अवधारणा) जैसे पहलू हैं। उनका मानना है कि आम्बेडकर की नज़र में जाति-व्यवस्था में सुधार नहीं किया जा सकता, बल्कि इसे सिर्फ़ जड़ से ख़त्म किया जा सकता है। इन विद्वानों का तर्क है कि आम्बेडकर की मान्यता के अनुसार जाति-व्यवस्था ख़त्म करने के लिए सिर्फ़ सामाजिक, सांस्कृतिक और संगठित धर्म से जाति के संबंध को अलग करना पर्याप्त नहीं है। दलितों के उद्धार के लिए इसके साथ-साथ जाति-व्यवस्था की आर्थिक और राजनीतिक संरचना को समाप्त करना भी ज़रूरी होगा। दूसरी तरफ़, कई विद्वान जाति-व्यवस्था ख़त्म करने के अभियान में गाँधी की निष्ठा और नीयत पर सवाल उठाते हैं। साथ ही, जाति-व्यवस्था ख़त्म करने के गाँधी के तौर-तरीक़ों के बारे में समझने का बिल्कुल प्रयास नहीं किया जाता है। अत:, संबंधित लिखित सामग्री और साहित्य में जाति-व्यवस्था को ख़त्म करने के गाँधी के तौर-तरीक़ों की प्रासंगिकता को लेकर किसी तरह की चर्चा नहीं है। हालाँकि, कुछ विद्वानों की राय है कि गाँधी का इरादा छुआछूत के चलन को ख़त्म करना था। उनका मानना है कि गाँधी के लिए जाति-व्यवस्था का मामला शुद्धता और अशुद्धता, जातिगत विषमता और जातिगत पदानुक्रम की धारणा से जुड़ा है। उनका यह भी मानना है कि गाँधी की राय में सिर्फ़ जाति-व्यवस्था और हिंदू धर्म में सुधार के ज़रिये जाति-व्यवस्था से संबंधित ज़्यादातर समस्याओं को समाप्त किया जा सकता है।

इस तरह के अध्ययन पर ग़ौर करने से संकेत मिलते हैं कि उपरोक्त वैचारिक दायरे में दलित आंदोलन गाँधी-आम्बेडकर बहस से कुछ सीखने की सम्भावना पर ग़ौर करना मुश्किल ही है। इस तरह का नज़रिया दलित आंदोलन के लिए गाँधी-आम्बेडकर बहस की प्रासंगिकता को समझने और इसके मूल्यांकन को असम्भव बना देता है। अत:, गाँधी और आम्बेडकर से संबंधित रचनात्मक और व्यावहारिक बहस की सम्भावना को साकार करने के लिए सबसे पहले हमें इस तरह के नज़रिये से बाहर निकलकर सोचने की ज़रूरत है।

कुछ ताज़ा प्रमाण पेश कर और मौजूदा प्रमाणों की पुन:व्याख्या के ज़रिये हमें यह समझने में मदद मिलती है कि बेशक गाँधी का तरीक़ा अलग था, लेकिन जाति-व्यवस्था को ख़त्म करने को

लेकर उनकी प्रतिबद्धता किसी से कम नहीं थी। इस लेख में कहा गया है कि इस तरह के वैचारिक दायरे में (जहाँ गाँधी को भी जाति–व्यवस्था को ख़त्म करने के लिए प्रतिबद्ध माना जाए) हम गाँधी और आम्बेडकर के बीच रचनात्मक और व्यावहारिक बहस की सम्भावना पर ग़ौर कर सकते हैं। यह बहस दलित आंदोलन की कुछ समस्याओं के समाधान बता सकती है।

कुछ सुझाव

जाति–व्यवस्था को ख़त्म करने के अभियान में गाँधी की निष्ठा और नीयत संबंधी धारणा ही एकमात्र बाधा नहीं है, जो हमें गाँधी और आम्बेडकर के सिद्धांतों के बीच रचनात्मक और व्यावहारिक बहस की दिशा में आगे बढ़ने से रोकती है। कुछ अन्य समस्याएँ भी हैं। ये समस्याएँ गाँधी–आम्बेडकर विमर्श को ऐसे मोड़ पर ला सकती हैं, जहाँ से इसके आगे बढ़ने का रास्ता बंद हो सकता है। बहरहाल, अगर हम दोनों के बीच रचनात्मक और टिकाऊ बहस की सम्भावना की तलाश करना चाहते हैं या यह जानना चाहते हैं कि क्या इसके ज़रिये दलित आंदोलन से संबंधित कुछ समस्याओं से निपटने के लिए कुछ सुझाव प्राप्त किये जा सकते हैं, तो हमें निम्न बिंदुओं को ध्यान में रखने की ज़रूरत है। पहला, चाहे गाँधी हों या आम्बेडकर, हमें अपने नायकों के प्रति ग़ैर–आलोचनात्मक लगाव से बचना चाहिए। आम्बेडकर या गाँधी से यह ग़ैर–आलोचनात्मक लगाव हमें उनके विचारों का आलोचात्मक विश्लेषण करने नहीं देता है। इस तरह का रवैया इन महापुरुषों को ऐतिहासिकता से वंचित कर उन्हें शाश्वत शख़्सियत में बदल देता है, जिनके विचारों को संदर्भ के हिसाब से नहीं देखा जाता है। साथ ही, इसमें बदली हुई ऐतिहासिक परिस्थितियों के लिहाज़ से फेरबदल की गुंजाइश भी नहीं होती है। दूसरा, हमें किसी एक शख़्स की क़ीमत पर दूसरे शख़्स का आकलन नहीं करना चाहिए। मौजूदा लिखित सामग्रियों में इस तरह की प्रवृत्ति देखने को मिलती है, मानो हमें ज़रूरी तौर पर एक का पक्ष लेना चाहिए और दूसरे की प्रशंसा के लिए पहले की निंदा करनी चाहिए। हमें यह तरीक़ा नहीं अपनाना चाहिए। यह लेख दोनों का मूल्यांकन और विश्लेषण करना चाहता तो है, लेकिन एक–दूसरे की क़ीमत पर नहीं। इसमें यह बात स्वीकार की गयी है कि अगर किसी का अधिकांश प्रयास गाँधी या आम्बेडकर को ग़लत साबित करने की दिशा में है तो आम्बेडकर या गाँधी, दोनों में से किसी एक की अच्छी छवि तैयार करने से कोई फ़ायदा नहीं होगा।

तीसरा, किसी को उनके बीच के मतभेदों को भी भुलाने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। थॉमस पैंथम, रामचंद्र गुहा, पार्थ चटर्जी और सुहास पलशीकर जैसे कई प्रमुख विद्वान गाँधी और आम्बेडकर धड़े के बीच सामंजस्य और मेल–मिलाप के उपाय ढूँढ़ने की कोशिश करते रहे हैं। साथ ही, ये विद्वान दोनों को उनके जीवन–भर के संघर्षों और एक ही लक्ष्य के लिए काम करने की ख़ातिर अलग–अलग तरीक़े ढूँढ़ने के लिए प्रयासरत रहने के कारण उचित श्रेय और सम्मान भी देते रहे हैं। यह लेख उनके मतभेदों को भुलाने की ऐसी कोशिशों के ख़िलाफ़ है, क्योंकि सामंजस्य स्थापित करने का यह प्रयास दोनों व्यक्तित्वों में एकरूपता के लिए गुंजाइश बनाएगा। ऐसे में इन दोनों में से किसी एक शख़्स के लिए दूसरे की क़ीमत पर ग़ैर–ज़रूरी समावेशन या तारीफ़ की स्थिति बनती है। चौथा, हमें उनके मतभेदों पर ध्यान देना चाहिए। जो लिखित सामग्री उपलब्ध है, उनमें कई विद्वान इस बात को स्वीकार करते हैं कि गाँधी और आम्बेडकर का रिश्ता संवाद के बजाय पूरी तरह से टकराव की अवस्था में ख़त्म हुआ। हम यह भी जानते हैं कि गाँधी और आम्बेडकर के बीच प्रतिद्वंद्विता को लेकर बहस गली–चौराहे से लेकर अख़बारों के कॉलम, ब्लॉग, किताब, डॉक्युमेंट्री फ़िल्मों आदि तक में देखने को मिलती है। इस तरह की बहसों में अकसर आम्बेडकर समर्थक–गाँधी विरोधी समूह और गाँधी समर्थक–आम्बेडकर विरोधी समूह के बीच आक्रामक अंदाज़ में अपमानजनक संवाद भी होता है। हालाँकि, यह लेख इस तरह के विमर्श या बहस में कुछ और नहीं जोड़ना चाहता।

> हमें यह सोचने के लिए मजबूर होना पड़ता है कि हम किस तरह से 'आत्म-शुद्धीकरण' बनाम 'आत्म-सम्मान' से 'आत्म-शुद्धीकरण' और 'आत्म-सम्मान' की तरफ़ बढ़ सकते हैं या हम कैसे दो अलग-अलग लेकिन एक-दूसरे से क़रीबी तौर पर जुड़ी अवधारणा तैयार कर सकते हैं, ताकि दोनों को मिलाकर जाति-व्यवस्था को ख़त्म करने के लिए लचीला लेकिन ताक़तवर हथियार बनाया जा सके। इस संबंध में गाँधी और आम्बेडकर के तरीक़ों में अंतर दो चीज़ों की तरफ़ इशारा करता है। पहला, यह बताता है कि जाति-व्यवस्था की समाप्ति और जातियों के बीच समानता की स्थापना का अभियान सिर्फ़ दलितों पर नहीं छोड़ा जा सकता और न ही इसे सिर्फ़ इस समुदाय पर छोड़ा जाना चाहिए। इससे पता चलता है कि कथित सवर्ण जाति के हिंदू या ग़ैर-दलित जाति-व्यवस्था को ख़त्म करने में अहम भूमिका निभा सकते हैं और उन्हें ऐसा करना भी चाहिए।

इस लेख में उनके मतभेदों पर ग़ौर करने का मतलब यह स्वीकार करना है कि जाति-व्यवस्था से निपटने के दोनों के तरीक़े अलग-अलग थे। साथ ही, अगर हम उनके मतभेदों पर प्रकाश डालें तो हमें दलित आंदोलन के आंतरिक विरोधाभास को दूर करने या इस आंदोलन के भविष्य की रूपरेखा तैयार करने में मदद मिल सकती है। अत: आगे के उपखण्डों में जाति-प्रथा को ख़त्म करने से संबंधित गाँधी और आम्बेडकर के तौर-तरीक़ों के बीच अंतर पर प्रमुखता से बात की गयी है। यह भी बताया गया है कि उन दोनों की बहस से दलित आंदोलन क्या सबक़ सीख सकता है। इसका मतलब यह है कि मौजूदा लेख में इस तथ्य का पूरी तरह ध्यान रखा गया है कि दलितों से जुड़े अभियान को लेकर एक नहीं बल्कि दो अलग-अलग वैचारिक आधार हैं। एक विचार कथित ऊँची जाति के और सवर्ण हिंदुओं के आत्म-शुद्धीकरण से जुड़ा है, जबकि दूसरा दलित पहचान की आज़ादी के संघर्ष पर आधारित है। लेख में यह जानने की कोशिश की गयी है कि ये दोनों पद्धतियाँ किस तरह से एक-दूसरे से जुड़ी हैं और क़रीबी स्तर पर पारस्परिक संवाद से किस तरह दो स्वतंत्र विचारों को जोड़ा जा सकता है। इसके अलावा, इस लेख में यह प्रयास किया जाएगा कि दलित आंदोलन के लिए एक साथ रणनीतिक और व्यावहारिक सूत्र मुहैया कराया जा सके।

मिथ्या भाव बनाम सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मतभेद

आम्बेडकर की तरह गाँधी के लिए भी व्यक्ति सबसे अहम है। दोनों की राय में वैसी सामाजिक व्यवस्था सबसे अच्छी है, जिसमें हर व्यक्ति के लिए अपनी क्षमता के हिसाब से ख़ुद को सबसे अच्छी तरह से विकसित करने की गुंजाइश हो। दोनों ने आख़िरकार इस बात को लेकर सहमति जताई थी कि मौजूदा जाति-प्रथा को ऐसी सामाजिक व्यवस्था नहीं माना जा सकता। हालाँकि, इस सिलसिले में दोनों के अलग-अलग तर्क थे। गाँधी का मानना था कि जाति-व्यवस्था ने जातिगत भेदभाव और जाति पर आधारित श्रेष्ठता-हीनता का मिथ्या भाव पैदा कर दिया और इसी वजह से न सिर्फ़ दलितों के साथ निर्ममता हुई, बल्कि इसने सवर्ण जाति के हिंदुओं के व्यवहार को अमानवीय बना दिया। उनकी राय में सवर्ण हिंदू भी जाति-व्यवस्था से उतने ही पीड़ित थे, जितने दलित; और जाति-व्यवस्था को ख़त्म करने के लिए हर व्यक्ति के लिए (चाहे वह किसी जाति का हो) इस तरह के जातिगत पूर्वग्रहों से निकलना ज़रूरी थी। गाँधी के मुताबिक़ हर किसी के लिए जातिगत भेदभाव और जाति से संबंधित श्रेष्ठता-हीनता की धारणा को त्यागना ज़रूरी था। लिहाज़ा, यह समझना अहम था कि किस तरह से हिंदू समाज में यह मिथ्या भाव पैदा हुआ और

इसे उचित बताया गया। उनके अनुसार यह मिथ्या भाव शुद्धता और अशुद्धता की धारणा व शारीरिक श्रम की अप्रतिष्ठा के कारण पैदा हुआ और इसका पोषण भी हुआ। उनका पक्के तौर पर मानना था कि शारीरिक श्रम की गरिमा को वापस लाकर और लोगों के दिमाग़ से शुद्धता–अशुद्धता की धारणा को धीरे–धीरे हटाकर जातिगत भेदभाव और जाति आधारित श्रेष्ठता–हीनता का भाव समाप्त किया जा सकता है। आम्बेडकर इस बात से सहमत थे कि बेहतर इंसान बनने के लिए सवर्ण हिंदुओं को ज़रूरी तौर पर अपना जातिगत पूर्वग्रह छोड़ना होगा। हालाँकि, गाँधी के विचारों को स्वीकार करने को लेकर उन्हें गम्भीर आपत्ति थी। उन्होंने यह स्वीकार नहीं किया कि सवर्ण जाति के हिंदू भी जाति–व्यवस्था से उतने ही पीड़ित हैं, जितने दलित। दूसरा, उन्होंने यह भी नहीं माना कि सिर्फ़ शारीरिक श्रम की गरिमा को वापस लाकर और लोगों के दिमाग़ से शुद्धता–अशुद्धता की धारणा को हटाकर जातिगत भेदभाव और जाति आधारित श्रेष्ठता–हीनता की धारणा को ख़त्म किया जा सकता है।

आम्बेडकर के मुताबिक़, जाति–व्यवस्था की समस्या को लेकर गाँधी का विश्लेषण सतही था। उनकी राय में जातिगत भेदभाव और जाति आधारित श्रेष्ठता–हीनता का भाव सिर्फ़ किसी व्यक्ति के मन का ख़याल या मिथ्या भाव नहीं है, जिसे हिंदुओं के दिमाग़ से जातिगत पूर्वग्रहों को हटाकर ख़त्म किया जा सकता है। आम्बेडकर के अनुसार, जातिगत भेदभाव और जाति के आधार पर श्रेष्ठता–हीनता का भाव एक बड़ी सच्चाई थी। उनका कहना था कि हिंदू समाज में धन–सम्पत्ति, राजनीतिक सत्ता, ज्ञान, अन्य चीज़ें और ऊँची हैसियत का प्रदर्शन करने वाले साधनों का बँटवारा जाति आधारित पदानुक्रम के हिसाब से ही है। उन्हें पता था कि ये विषमताएँ और जाति आधारित पदानुक्रम महज सांकेतिक नहीं हैं बल्कि राजनीतिक सत्ता, ज्ञान और आर्थिक संसाधनों का बँटवारा भी जातिगत पदानुक्रमों के हिसाब से ही हुआ है। इसका परिणाम यह हुआ कि व्यवस्था में हाशिये पर मौजूद लोगों का समूह न सिर्फ़ अपनी क्षमता के हिसाब से अच्छा करने के अवसर से वंचित रह गया, बल्कि उसे अपनी आजीविका और अस्तित्व के लिए बुनियादी ज़रूरतों के अभाव का सामना करना पड़ा। दूसरे शब्दों में कहें तो आम्बेडकर के मुताबिक़, जाति–व्यवस्था दलितों के लिए सामाजिक न्याय और समानता का अवसर प्राप्त करने की राह में बाधा थी।

आम्बेडकर की इस सलाह के बाद अब तक दलित आंदोलन का ज़ोर दलित समुदाय की आर्थिक स्थिति बेहतर करने पर रहा है। लिहाज़ा, दलित आंदोलन की एक समस्या यह है कि इसमें दलितों को लेकर पूरे हिंदू समुदाय की धारणा में बदलाव के महत्त्व को नहीं समझा गया है। इसके बजाय इस आंदोलन का पूरा ध्यान दलित समुदाय की आर्थिक स्थिति बदलने पर है। हालाँकि, गाँधी–आम्बेडकर बहस का यह पहलू बताता है कि वास्तविक दुनिया में जाति का मामला आर्थिक–भौतिक हालात से आगे भी है और जाति ख़त्म करने के लिए आर्थिक स्थिति से परे जाकर पहल करनी होगी। जाति न सिर्फ़ आर्थिक हैसियत का मामला है, बल्कि लोगों की धारणा से भी जुड़ा है। इस धारणा में बदलाव किये बिना सिर्फ़ आर्थिक बदलाव से जाति–व्यवस्था ख़त्म नहीं की जा सकेगी। गाँधी–आम्बेडकर बहस के इस पहलू से दलित आंदोलन को यह सीख मिल सकती है कि जाति को ख़त्म करने में लोगों की धारणा में बदलाव भी महत्त्वपूर्ण है। साथ ही, यह आंदोलन अब दलित समेत पूरे हिंदू समुदाय की धारणा में बदलाव पर ध्यान केंद्रित कर सकता है, जिसका अब तक मुख्य तौर पर ज़ोर आर्थिक स्थिति बदलने पर रहा है।

सामुदायिक ज़िम्मेदारियाँ बनाम राज्य संरक्षण

गाँधी ने यह कहते हुए जनता को शिक्षित करने का फ़ैसला किया कि जातिगत भेदभाव, जाति आधारित पदानुक्रम और शुद्धता–अशुद्धता की धारणा पर आधारित परम्पराएँ उनके धर्म का अभिन्न हिस्सा नहीं हैं और अगर ये चीज़ें तार्किकता और नैतिकता के प्रतिकूल हैं तो इन्हें ख़त्म किया जाना चाहिए। इस

आम्बेडकर का यह विश्लेषण आंशिक रूप से ही सच साबित हुआ है कि एक विचार के रूप में आधुनिक व्यवस्था में सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़े लोगों का उद्धार करने की सम्भावना है। दरअसल, यह बात सच हो सकती है कि शहरों जैसी आधुनिक जगहों पर जाति आधारित भेदभाव और शोषण का मामला थोड़ा कम हो, लेकिन कई अध्ययनों ने दिखाया है कि एक आधुनिक भारतीय की रोज़मर्रा की ज़िंदगी में किस तरह से अकसर छद्म और अन्य स्वरूपों में जाति की सक्रियता बनी रहती है। यहाँ तक कि शिक्षा और रोज़गार के आधुनिक संस्थानों में भी यह सक्रियता देखने को मिलती है।

सिलसिले में उन्होंने तर्क, अनुनय-अनुरोध और व्यक्तिगत उदाहरण का सहारा लिया। उन्होंने समर्पित कार्यकर्ताओं की फ़ौज तैयार की, जो गाँव-गाँव जाकर अपने कार्यों से उदाहरण पेश करते थे। ये कार्यकर्ता लोगों को यह अहसास कराते थे कि शुद्धता-अशुद्धता की अवधारणा पर आधारित जातिगत पाबंदियाँ उनके धर्म का अनिवार्य हिस्सा नहीं हैं। उन्होंने कई संस्थाओं का गठन किया और इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए पूरे देश की यात्रा की। गाँधी की नज़र में व्यक्ति या संबंधित समुदाय ही उनके इस आंदोलन की वास्तविक ताक़त थे। वह न सिर्फ़ जातिगत भेदभाव और जाति आधारित श्रेष्ठता-हीनता की धारणा को ख़त्म करने बल्कि समाज सुधार से जुड़े अन्य आंदोलनों में भी राज्य की अहमियत को लेकर हमेशा असहज रहे। राज्य की तरफ़ से शुरू किये गये सुधारों के ख़िलाफ़ गाँधी के तर्कों के बारे में पारेख लिखते हैं :

ये (राज्य की तरफ़ से शुरू किये प्रयोग) आदमी से अपनी इच्छा के विरुद्ध 'भार ढोने के लिए मजबूर गधे' की तरह बर्ताव करते हैं और उन्हें इंसान नहीं समझते। इससे नैतिक जड़ता और निर्भरता की संस्कृति को बढ़ावा मिलता है। किसी भी सामाजिक परम्परा को लेकर असहज महसूस करने की स्थिति में जनता को अपनी और अन्य लोगों की नैतिक ऊर्जा को सक्रिय करने के लिए तरीक़े ढूँढ़ने के बजाय राज्य के पास दौड़ने की 'आलस्यपूर्ण' आदत पड़ जाती है। अतः, गाँधी के विचारों के मुताबिक़ सामाजिक सुधार के कार्य संबंधित समुदाय की ज़िम्मेदारी होनी चाहिए और राज्य को इस सिलसिले में अधिकार नहीं जताना चाहिए।

दूसरी तरफ़, आम्बेडकर को पता था कि वह जिन लोगों के लिए संघर्ष कर रहे हैं, वे सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़े, आर्थिक रूप से अधीन और सांस्कृतिक तौर पर दबे-कुचले हैं। इस वजह से उन्हें समाज में ऊपर की तरफ़ सुगमतापूर्वक बढ़ाने और ऊँचे दर्जे के वास्तविक साधनों की समान उपलब्धता सुनिश्चित करने के लिए संवैधानिक सुरक्षा की दरकार होगी। इस वैचारिक आधार के हिसाब से देखा जाए तो जातिगत भेदभाव और जाति आधारित श्रेष्ठता-हीनता का भाव ख़त्म करने और दलितों के हितों की सुरक्षा में राज्य को अहम भूमिका निभानी थी। आम्बेडकर के जीवन और संघर्ष से स्पष्ट है कि उन्होंने दलितों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक उत्थान के लिए सरकार के साथ काम करने का मौक़ा कभी भी नहीं गँवाया। चाहे वह ब्रिटिश सरकार हो या फिर कांग्रेस की सरकार, आम्बेडकर ने इस तरह के अवसरों का उपयोग किया। उनके मुताबिक़, इसी तरीक़े से जातिगत भेदभाव और जाति आधारित पदानुक्रम को ख़त्म किया जा सकता था।

क्रिस्टॉफ़ जैफ्रेलो लिखते हैं : 'चाहे ब्रिटिश हुकूमत हो या कांग्रेस की सरकार, उन्होंने (आम्बेडकर) अस्पृश्यों की समस्याओं के बेहतर समाधान के लिए अपनी निजी क्षमता में सरकार को प्रभावित करने की भरपूर कोशिश की।'

गाँधी ने व्यक्ति की स्वतंत्रता को ख़त्म करने में सरकार की भूमिका को भी जाति-व्यवस्था जितना ख़तरनाक माना। उनका मानना था कि 'राज्य निजता ख़त्म कर मानव जाति का सबसे बड़ा

नुक़सान करता है।' उनकी राय में राज्य जैसी किसी बाहरी एजेंसी पर निर्भर रहने के बजाय सबसे अच्छा विकल्प वह है, जो व्यक्ति और समुदाय के अंत:करण को प्रभावित करने का प्रयास करे। उनकी नज़र में राज्य एकत्रित और संगठित हिंसा से ज़्यादा कुछ नहीं था। गाँधी बेहद हिचकिचाहट के साथ राज्य को क़ानून और व्यवस्था बनाए रखने के माध्यम के रूप में स्वीकार करने को तैयार थे। हालाँकि, उन्होंने इसे लोगों की ज़िंदगी और समाज में क्रांतिकारी बदलाव लाने के माध्यम के रूप में स्वीकार नहीं किया।

आम्बेडकर की सलाह को ध्यान में रखते हुए दलित आंदोलन की निर्भरता काफ़ी हद तक राज्य पर रही। इसने दलितों के हितों को बढ़ावा देने और इसकी सुरक्षा के लिए संस्थागत तंत्र और उपकरणों की जटिल व्यवस्था तैयार की, जबकि संबंधित समुदाय की मदद से विस्तृत समाज की बदलती नैतिक संस्कृति के महत्त्व को नहीं समझा। इसका मतलब यह भी है कि दलित आंदोलन ने स्पष्ट रूप से राज्य और समाज के बीच विरोधाभास तैयार किया। इस तरह से उसने राज्य को तर्कसंगत प्रगतिशील माध्यम और समाज को प्रतिक्रियावादी इकाई के तौर पर देखा। साथ ही, दलित आंदोलन समाज को बदलने के लिए राज्य की दमनकारी शक्ति पर निर्भर रहा। हालाँकि, आरक्षण और क्षतिपूर्ति संबंधी भेदभाव जैसे राज्य आधारित सुधारों ने देश में जाति–व्यवस्था ख़त्म करने के बजाय अलग–अलग जाति समूहों के बीच वैमनस्य पैदा किया है। भीखू पारेख लिखते हैं कि आरक्षण और क्षतिपूर्ति संबंधी भेदभाव के कारण सवर्ण हिंदुओं और अस्पृश्यों के बीच वैमनस्य काफ़ी बढ़ा है। यह दलित आंदोलन की बड़ी विफलता है। इसके अलावा यह कथित सवर्ण जाति के हिंदुओं और दलित समुदाय के बीच विश्वास और सौहार्द तैयार करने में भी असफल रहा है। जाति–व्यवस्था ख़त्म करने के लिए कथित सवर्ण जाति के हिंदुओं और दलित समुदाय के बीच विश्वास और सौहार्द बनाना ज़रूरी है।

ऐसी परिस्थितियों में गाँधी के समाज केंद्रित उपायों पर तवज्जो देना दलित आंदोलन के लिए उपयोगी हो सकता है। इससे कटुता कम करने में मदद मिलती है और संघर्षरत पक्षों में कर्तव्य और ज़िम्मेदारी का भाव पैदा होगा। कथित सवर्ण जातियों और दलितों के बीच सौहार्द और विश्वास के अभाव में न सिर्फ़ समाज में सौहार्द और शांति बनाए रखने में बाधा पहुँचेगी, बल्कि जातिगत भेदभाव और जाति आधारित पदानुक्रम भी ख़त्म करना मुश्किल होगा। ऐसे में दलित आंदोलन राज्य आधारित और समाज आधारित कार्यक्रम पारस्परिक रूप से संसाधनों को मजबूत बनाएँगे। इसके परिणामस्वरूप जाति–व्यवस्था ख़त्म करने का मार्ग प्रशस्त होगा।

आत्म–शुद्धीकरण बनाम आत्म–सम्मान

गाँधी का मानना था कि सम्पत्ति इकट्ठा करना और राजनीतिक सत्ता हासिल करना किसी व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए नुक़सानदेह है। इसलिए उन्होंने उन उपायों का सहारा लिया, जो आम लोगों को भौतिक संसाधनों और राजनीतिक सत्ता हासिल करने के लिए जीतोड़ कोशिश करने के बजाय स्वैच्छिक रूप से सादगी, ग़रीबी और बिना भाग–दौड़ वाली ज़िंदगी की ख़ूबसूरती के बारे में जागरूक और शिक्षित करे। अत:, उन्होंने सम्पत्ति और राजनीतिक सत्ता हासिल करने के लिए संघर्ष करने की ख़ातिर दलितों को संगठित करने के बजाय सवर्ण हिंदुओं को अपने जातिगत पूर्वग्रह छोड़ने के लिए उन्हें शिक्षित और जागरूक करने को प्राथमिकता दी।

गाँधी ने बुनियादी तौर पर दो दिशाओं में काम किया। पहला, उन्होंने सवर्ण जाति के हिंदुओं को बताया कि शारीरिक कार्य भी बौद्धिक कार्यों के बराबर ही महत्त्वपूर्ण है। उनका इस बात पर ज़ोर था कि प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह किसी भी धर्म, जाति का हो और उसकी आर्थिक स्थिति कितनी भी अच्छी क्यों न हो, रोज़ शारीरिक कार्य करना चाहिए। उन्होंने शारीरिक श्रम की व्याख्या पारम्परिक यज्ञ के रूप में की और उनके आश्रमों में सूत कातना रोज़ाना महायज्ञ की तरह था। दूसरा, दलितों को बराबरी

गाँधी के लिए परम्परा और आधुनिकता या पश्चिमीकरण के बीच चुनने का मतलब शोषण और मुक्ति के बीच चुनाव नहीं है, बल्कि यह शोषण की अलग-अलग परम्पराओं के बीच चुनने जैसा मामला है। उनकी राय में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया मुक्ति का विकल्प नहीं बल्कि शोषण का बदला हुआ स्वरूप है। ... आम्बेडकर की तुलना में गाँधी ज़्यादा सही जान पड़ते हैं। गाँधी परम्परा व आधुनिकता और दोनों के बीच संबंध और संवाद की प्रकृति को लेकर हमारी कुछ धारणाओं को चुनौती देते हैं। गाँधी ... कहते हैं कि परम्परा और आधुनिकता अलग व विपरीत श्रेणी में नहीं हैं, बल्कि एक साथ जुड़े हैं। साथ ही, दलितों का शोषण और मुक्ति, दोनों पारम्परिक समाज के साथ-साथ आधुनिक समाजों में भी सम्भव है। इसलिए दलित आंदोलन गाँधी-आम्बेडकर बहस के इस पहलू के ज़रिये आधुनिकता के असर को लेकर ज़्यादा यथार्थवादी होने के बारे में सीख सकता है।

का दर्जा देने में नाकाम रहने को लेकर उनका इरादा सवर्ण जाति के हिंदुओं में शर्म और अपराधबोध की भावना पैदा करना था। गाँधी ने यह भी कहा कि छुआछूत की प्रथा सवर्ण हिंदुओं का पाप या नैतिक असफलता है और उन्हें इस प्रथा के हर स्वरूप का त्याग कर ख़ुद का शुद्धीकरण करना चाहिए।

वे लिखते हैं : 'यहाँ तक कि क़ानून के ज़ोर से भी छुआछूत नहीं ख़त्म होगा। इसे तभी ख़त्म किया जा सकता है, जब बहुसंख्यक हिंदू यह महसूस करें कि यह ईश्वर और इंसान के विरुद्ध अपराध है और उन्हें इसको लेकर ग्लानि है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह मन के परिवर्तन की एक प्रक्रिया है, हिंदू मन का शुद्धीकरण। इस तरह से गाँधी ने छुआछूत और जाति-व्यवस्था के ख़िलाफ़ अपनी लड़ाई को आत्म-शुद्धीकरण का आंदोलन बनाया, जिसमें सवर्ण हिंदुओं को शारीरिक श्रम की गरिमा स्वीकार करने, छुआछूत का चलन छोड़ने और अपने पापों के प्रायश्चित के रूप में दलितों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक उत्थान में उनकी मदद करने के लिए कहा गया।

आम्बेडकर ने इन सुझावों को अपमानजनक पाया। उनका कहना था कि सवर्ण हिंदुओं के आत्म-शुद्धीकरण के इस अभियान में वे (सवर्ण हिंदू) दलितों को महज वस्तु मानते हैं। जाति के मुद्दे से निपटने में गाँधी के तरीक़ों से आम्बेडकर की असहमति के बारे में डी. नागराज लिखते हैं :

> बाबासाहेब (आम्बेडकर) के पास गाँधी के मॉडल को ख़ारिज करने के अलावा कोई और विकल्प नहीं था। वे महसूस कर चुके थे कि इस मॉडल ने आत्म-शुद्धीकरण के 'कर्मकाण्ड' में हरिजनों को सफलतापूर्वक वस्तु के रूप में बदल दिया है। इस कर्मकाण्ड का पालन वे लोग कर रहे हैं, जिन्हें ख़ुद को लेकर बड़े पैमाने पर नायकत्व की धारणा थी। इतिहास के रंगमंच में, इस तरह की कहानी के नाटक में अस्पृश्य अपने हिसाब से कभी नायक नहीं बने, वे किसी नायक के लिए अपनी अस्तित्ववादी चिंता व निराशा और शायद ग़ौरव को देखने में सिर्फ़ आईने की तरह हैं।

आम्बेडकर का मानना था कि अपनी सहायता करना सबसे अच्छी मदद है। इतिहास के ज़रिये वह जानते थे कि अन्याय तब तक ख़त्म नहीं होता, जब तक पीड़ित ख़ुद अपने प्रयासों और कार्यों से उसे नहीं समाप्त करता। उन्होंने शायद सही तरीक़े से इस बात को समझा कि जब तक दलित अपनी तकलीफ़ों को दूर करने के लिए ख़ुद को संगठित नहीं करेंगे, तब उनके जीवन में किसी तरह का बदलाव नहीं आएगा। एक भाषण में आम्बेडकर कहते हैं :

> उधार या किराये पर लिया गया यानी आपकी बिरादरी से ताल्लुक़ नहीं रखने वाला कोई भी शख़्स आपका थोड़ा भी कल्याण नहीं कर सकता है। आप अपने आप को आंतरिक

विभाजन से मुक्त कर करते हुए मज़बूती से संगठित कर सकते हैं...।

आम्बेडकर की राय में जाति की समस्या सिर्फ़ दलितों को बराबरी का दर्जा देने में सवर्ण हिंदुओं की नैतिक असफलता नहीं है। जाति-व्यवस्था दलितों के बीच आत्म-संशय, आत्म-परित्याग, आत्म-उपेक्षा की मानसिक अवस्था भी तैयार करती है। अतः, आम्बेडकर के लिए सबसे अच्छा तरीक़ा वह था, जो दलितों के बीच आत्म-विश्वास और आत्म-सम्मान पैदा कर सके। ऐसे में उन्होंने दलितों को अपने अधिकारों के लिए संगठित करने पर ज़ोर दिया, ताकि उन्हें न सिर्फ़ जातिगत भेदभाव और जाति आधारित श्रेष्ठता-हीनता के भाव को समाप्त करने में मदद मिले बल्कि उनमें आत्म-सम्मान और गरिमा का भाव भी पैदा हो सके और वे अपनी सामाजिक-आर्थिक दिक़्क़तों को दूर सकें। लिहाज़ा, आम्बेडकर ने जातिगत भेदभाव और जाति आधारित श्रेष्ठता-हीनता की धारणा को समाप्त करने के लिए सवर्ण हिंदुओं के आत्म-शुद्धीकरण संबंधी गाँधी के विचार को ख़ारिज कर दिया।

हालाँकि, परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं और ऐसे में हमें यह सोचने के लिए मजबूर होना पड़ता है कि हम किस तरह से 'आत्म-शुद्धीकरण' बनाम 'आत्म-सम्मान' से 'आत्म-शुद्धीकरण' और 'आत्म-सम्मान' की तरफ़ बढ़ सकते हैं या हम कैसे दो अलग-अलग लेकिन एक-दूसरे से क़रीबी तौर पर जुड़ी अवधारणा तैयार कर सकते हैं, ताकि दोनों को मिलाकर जाति-व्यवस्था को ख़त्म करने के लिए लचीला लेकिन ताक़तवर हथियार बनाया जा सके। इस संबंध में गाँधी और आम्बेडकर के तरीक़ों में अंतर दो चीज़ों की तरफ़ इशारा करता है। पहला, यह बताता है कि जाति-व्यवस्था की समाप्ति और जातियों के बीच समानता की स्थापना का अभियान सिर्फ़ दलितों पर नहीं छोड़ा जा सकता और न ही इसे सिर्फ़ इस समुदाय पर छोड़ा जाना चाहिए। इससे पता चलता है कि कथित सवर्ण जाति के हिंदू या ग़ैर-दलित जाति-व्यवस्था को ख़त्म करने में अहम भूमिका निभा सकते हैं और उन्हें ऐसा करना भी चाहिए। दलित आंदोलन ने अब तक अपने संघर्ष में ग़ैर-दलितों विशेष रूप से कथित सवर्ण जाति के हिंदुओं से जुड़े प्रगतिशील तबक़े को न तो स्वीकार किया है और न ही उन्हें इस सिलसिले में आमंत्रित किया है। इसलिए गाँधी-आम्बेडकर बहस से प्रेरणा लेते हुए दलित आंदोलन को ज़रूर इस बारे में भी सोचना चाहिए कि वह किस तरह से ग़ैर-दलितों, विशेष रूप से कथित सवर्ण हिंदुओं के प्रगतिशील तबक़े को जाति-व्यवस्था ख़त्म करने और समानता स्थापित करने के अभियान में शामिल कर सकता है। गाँधी-आम्बेडकर विमर्श के मुताबिक़, जाति-व्यवस्था को ख़त्म करने में ग़ैर-दलितों, विशेष रूप से कथित सवर्ण हिंदुओं के प्रगतिशील तबक़े की प्रमुख भूमिका है।

दूसरा, दलित आंदोलन की एक और समस्या दलितों के बीच छुआछूत के चलन को ख़त्म कर दलितों में एकता क़ायम करने को लेकर है। गाँधी और आम्बेडकर के तरीक़ों के बीच के अंतर से कुछ सूत्र हासिल कर इस समस्या से निपटा जा सकता है। एक हक़ीक़त यह है कि दलित जातियाँ भी एक-दूसरे के प्रति छुआछूत और भेदभाव का बर्ताव करती हैं। उनके बीच अंतरजातिगत विवाह नहीं के बराबर होते हैं और अगर वे ऐसा करते भी हैं तो विवाद की स्थिति पैदा हो जाती है। दलित आंदोलन अब तक इस महत्त्वपूर्ण समस्या से निपटने का कोई तरीक़ा विकसित नहीं कर पाया है। ऐसे में आत्म-शुद्धीकरण की गाँधी की धारणा को अपनाने से दलित आंदोलन को फ़ायदा मिल सकता है। अगर दलित आंदोलन इसे अपने एक कार्यक्रम की तरह अपनाता है और इस अवधारणा के इर्द-गिर्द ज़ोरदार जागरूकता अभियान चलाता है, तो इससे न सिर्फ़ कथित सवर्ण जाति के हिंदुओं बल्कि दलितों के बीच भी छुआछूत के चलन को ख़त्म करने में मदद मिलेगी।

परम्परा बनाम पश्चिमीकरण/आधुनिकीकरण

पश्चिमीकरण/आधुनिकीकरण में अन्य चीज़ों के अलावा पारम्परिक जीवन-शैली में बदलाव का मामला भी शामिल है। इसमें परम्पराओं और अंधविश्वासों के आधार पर बने इंसानी समाज के ढाँचे

के बदले आधुनिक जीवन-शैली अपनाने की बात है। इसमें आधुनिक संस्थानों, आधुनिक ज्ञान और तार्किकता के आधार पर सामाजिक व्यवस्था तैयार होती है। एम.एन. श्रीनिवास ने इसे ऐसे बदलाव के तौर पर पारिभाषित किया है, जो किसी पश्चिमी देश के साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्पर्क के कारण किसी ग़ैर-पश्चिमी देश में देखने को मिलता है। कार्ल मार्क्स और जवाहर लाल नेहरू जैसों की तरह आम्बेडकर का भी मानना था कि इस तरह के बदलाव से भारत में जाति-व्यवस्था के अंत का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा। भारत में रेलवे की शुरुआत के समय कार्ल मार्क्स ने कहा था कि इससे पूँजीवादी उद्योग की स्थापना की राह बनेगी और आख़िरकार जाति जैसी ख़राब सामाजिक व्यवस्था के ख़त्म होने की शुरुआत होगी।

वे लिखते हैं : 'रेलवे प्रणाली के परिणामस्वरूप आधुनिक उद्योग श्रम के परम्परागत बँटवारे को ख़त्म करेंगे। भारत में श्रम का परम्परागत बँटवारा जाति-व्यवस्था पर आधारित है।' मार्क्स के बाद नेहरू और आम्बेडकर जैसे पश्चिमी नज़रिया रखने वाले कई बड़े भारतीय नेताओं ने पश्चिमीकरण की प्रक्रिया में इसी तरह की आस्था जतायी। उनका मानना था कि किसी भी समाज में विज्ञान और तकनीक को लाने से वहाँ के लोगों के रवैये/दुनिया देखने के नज़रिये में ज़रूर बदलाव होगा। देबजानी गांगुली लिखती हैं : 'आम्बेडकर ने जातिगत भेदभाव के ख़िलाफ़ अपने संघर्ष में उन सभी मूल्यों को अपनाया, जो उन्होंने अपनी उदारवादी अंग्रेज़ी शिक्षा से हासिल की थी। साथ ही, उन्होंने ऐलान किया कि पश्चिमी लोकतंत्र (अपने धर्मनिरपेक्ष मूल्यों के साथ) का रास्ता ही जाति संबंधी तमाम बुराइयों के उन्मूलन का एकमात्र विकल्प है।'

यह एक तथ्य है कि पश्चिमीकरण ने काफ़ी हद तक जाति-व्यवस्था के पारम्परिक स्वरूप को चोट पहुँचाई है। इससे कोई इनकार नहीं कर सकता। ज़्यादातर लोग यह स्वीकार करेंगे कि महानगरों और बड़े शहरों में शिक्षित लोगों का बर्ताव काफ़ी हद तक जाति-व्यवस्था से संचालित नहीं होता है। कुछ विद्वानों का मानना है कि पश्चिमीकरण ने बेशक जाति-व्यवस्था के असर को कम करने में बड़ी भूमिका निभाई, लेकिन इसने कुछ समस्याएँ भी पैदा कीं। नागराज के मुताबिक़, ऐसी ही एक समस्या 'अपने ही अतीत को जानबूझकर भूलने संबंधी परिघटना' है। वे कहते हैं : 'जाति-व्यवस्था की परम्परा ने (आधुनिक संदर्भ में) निचली जाति के लोगों में हमेशा आत्म-संशय, आत्म-नकार और आत्म-घृणा जैसी मानसिक अवस्था तैयार करने की कोशिश की। आमतौर पर इस तरह की धारणा सामूहिक स्तर पर होती है। तिरस्कार का दंश झेल रहे समुदायों में किसी आधुनिक शख़्स के जन्म के साथ न सिर्फ़ उसके अपने समुदाय से संबंध ख़त्म होने की तकलीफ़ जुड़ी होती है, बल्कि अपने अतीत को बदलने का सचेत प्रयास भी इस प्रक्रिया का अभिन्न हिस्सा है।'

गाँधी पश्चिमीकरण से प्रभावित भारत में 'निचली जातियों में जानबूझ कर भूलने की परिघटना, और शिक्षित 'अस्पृश्य' युवाओं के बारे में भविष्यवाणी करने में शायद सक्षम रहे होंगे या हो सकता है कि ऐसा करने में सक्षम नहीं रहे हों। हालाँकि, उन्होंने न सिर्फ़ जाति-व्यवस्था को ख़त्म करने के लिए पश्चिमीकरण के अंधाधुंध अनुसरण का विरोध किया, बल्कि पश्चिमीकरण को देश की हर समस्या के समाधान के तौर पर पेश करने को लेकर भी असहमति जतायी। कई अन्य शिक्षित भारतीयों के उलट उन्होंने इस धारणा को इसलिए ख़ारिज किया, क्योंकि वह इस विचार से सहमत नहीं थे कि पश्चिमीकरण अंततः पारम्परिक या आधुनिक दौर से पहले के सामाजिक ढाँचे को बदल कर इंसान की मुक्ति के लिए उम्मीद जगाता है। गाँधी इस बात को मानने के लिए ख़ुद को तैयार नहीं कर सके कि पश्चिमी या आधुनिक दुनिया ने तर्क, समानता, स्वतंत्रता और न्याय के दौर का आगमन सुनिश्चित किया है। उन्हें पता था कि पश्चिमीकरण किसी भी समाज में इस तरह की धारणाओं को प्रमुखता से पेश करता है, लेकिन वह यह भी जानते थे कि पश्चिमीकरण का हमेशा मतलब समानता, स्वतंत्रता और न्याय नहीं होता, बल्कि इस व्यवस्था से जुड़ी असमानता, प्रभुत्व, शोषण और सरलीकरण का

अपना ही स्वरूप है। इसलिए गाँधी के लिए परम्परा और आधुनिकता या पश्चिमीकरण के बीच चुनने का मतलब शोषण और मुक्ति के बीच चुनाव नहीं है, बल्कि यह शोषण की अलग–अलग परम्पराओं के बीच चुनने जैसा मामला है। उनकी राय में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया मुक्ति का विकल्प नहीं बल्कि शोषण का बदला हुआ स्वरूप है। इसलिए आम्बेडकर और नेहरू के उलट गाँधी इस बात में यक़ीन नहीं रखते थे कि किसी भी प्राधिकार द्वारा विज्ञान और तकनीक लाने से किसी व्यक्ति या समाज में बुनियादी बदलाव होगा या यहाँ तक कि उनकी ज़िंदगी में धारणा या विचार के स्तर पर बदलाव होगा। उनका मानना था कि पश्चिमी विज्ञान और तकनीक को लाने से लोगों के बुनियादी विचारों में बदलाव नहीं होगा। वह मैसूर के रामपुर गाँव के सरकारी बुलडोज़र के ड्राइवर के बारे में श्रीनिवास की लेखनी से ज़रूर सहमत रहे होंगे।

श्रीनिवास लिखते हैं : 'पश्चिमी तकनीक को अपनाने का मतलब यह नहीं है कि इसका उपयोग करने वाले ने तर्कवादी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपना लिया है। ऐसे ही एक मामले में रामपुर में बुलडोज़र ड्राइवर ने इसे चलाने की कला में विशेषज्ञता हासिल कर ली थी और यहाँ तक कि वह इससे जुड़े छोटे–मोटे मरम्मत का काम भी कर लेता था। हालाँकि, वह अपनी धार्मिक मान्यताओं में न सिर्फ़ पूरी तरह से पारम्परिक था, बल्कि उसने कुछ काला जादू भी सीख रखा था, ऐसी चीज़ जो आमतौर पर छोटे समूहों तक सीमित रहती है। इस शख़्स को बुलडोज़र चलाने और काला जादू से जुड़ा काम करने के बीच किसी तरह की असंगति का अहसास नहीं हुआ।'

श्रीनिवास की तरह गाँधी भी इन व्यावहारिक दिक़्क़तों से वाक़िफ़ रहे होंगे। इस वजह से वह समझ सके कि विज्ञान और तकनीक के व्यापक इस्तेमाल के रूप में पश्चिमीकरण शायद जाति–व्यवस्था की परम्परा का अपने असली स्वरूप में पालन मुश्किल कर दे, लेकिन मुमकिन है कि इससे जनता के बीच जाति के नियमों को पूरी तरह से कमज़ोर करना या जातिगत भावना को बदलना सम्भव नहीं हो। यह सच न सिर्फ़ भारत के दूर–दराज़ के एक गाँव के कम पढ़े–लिखे बुलडोज़र के बारे में प्रासंगिक है, बल्कि बड़े शहरों और महानगरों के उच्च शिक्षित नागरिकों के मामले में भी लागू होती है। बेशक यह प्रतीत हो सकता है कि लोग जातिगत पूर्वग्रहों से मुक्त हैं, लेकिन शादी और आरक्षण जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों को लेकर उनका व्यवहार अब भी जाति संबंधी नियमों से तय होता है।

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं हो सकती कि कुछ मामलों में जाति–व्यवस्था ख़त्म होने के बजाय और मज़बूत होती नज़र आ रही है। जैसा कि ऊपर बताया गया, गाँधी पश्चिमीकरण की थोपी हुई प्रक्रिया की सीमाओं का अनुमान लगा सके और उन्होंने आम्बेडकर और कई अन्य शिक्षित भारतीयों की उस मान्यता को ख़ारिज कर दिया कि पश्चिमीकरण की प्रक्रिया जाति–व्यवस्था को ख़त्म कर सकती है। दूसरे शब्दों में कहें तो गाँधी ने पश्चिमीकरण को इसलिए ख़ारिज कर दिया, क्योंकि कई अन्य साधनों/माध्यमों की तरह यह भी सवर्ण जाति के हिंदुओं के दिमाग़ से जातिगत भेदभाव और जाति आधारित श्रेष्ठता–हीनता के भाव को हटाने में विफल है।

आठ दशकों के बाद भी आम्बेडकर का यह विश्लेषण आंशिक रूप से ही सच साबित हुआ है कि एक विचार के रूप में आधुनिक व्यवस्था में सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़े लोगों का उद्धार करने की सम्भावना है। दरअसल, यह बात सच हो सकती है कि शहरों जैसी आधुनिक जगहों पर जाति आधारित भेदभाव और शोषण का मामला थोड़ा कम हो, लेकिन कई अध्ययनों ने दिखाया है कि एक आधुनिक भारतीय की रोज़मर्रा की ज़िंदगी में किस तरह से अकसर छद्म और अन्य स्वरूपों में जाति की सक्रियता बनी रहती है। यहाँ तक कि शिक्षा और रोज़गार के आधुनिक संस्थानों में भी यह सक्रियता देखने को मिलती है।

जाति आधारित शोषण के मामले में परम्परा और आधुनिकता की व्याख्या को लेकर आम्बेडकर की तुलना में गाँधी ज़्यादा सही जान पड़ते हैं। गाँधी परम्परा व आधुनिकता और दोनों के बीच संबंध

और संवाद की प्रकृति को लेकर हमारी कुछ धारणाओं को चुनौती देते हैं। गाँधी उस वक़्त सही प्रतीत होते हैं, जब वे कहते हैं कि परम्परा और आधुनिकता अलग व विपरीत श्रेणी में नहीं हैं, बल्कि एक साथ जुड़े हैं। साथ ही, दलितों का शोषण और मुक्ति, दोनों पारम्परिक समाज के साथ-साथ आधुनिक समाजों में भी सम्भव है। इसलिए दलित आंदोलन गाँधी-आम्बेडकर बहस के इस पहलू के ज़रिये आधुनिकता के असर को लेकर ज़्यादा यथार्थवादी होने के बारे में सीख सकता है। लिहाज़ा, उसे जाति ख़त्म करने के लिए आधुनिकता के प्रसार पर ज़्यादा निर्भर नहीं रहना चाहिए। उसे जाति समाप्त करने के वैसे नये तरीक़ों की तरफ़ देखना चाहिए, जो भारतीय आधुनिकता की उचित समझ पर आधारित हो। ऐसी आधुनिकता, जिसका काफ़ी हद तक जुड़ाव परम्परा से भी बना रहता हो। इसका मतलब यह है कि दलित आंदोलन को आम्बेडकर की कल्पना से परे जाकर देखने की ज़रूरत है। आंदोलन को ऐसी आधुनिकता से जोड़ना होगा जो दलितों को जाति आधारित भेदभाव और शोषण से पूरी तरह मुक्त कर सकती है। साथ ही, इसके तहत गाँव जैसी पारम्परिक जगहों और शहर जैसे आधुनिक ठिकानों पर भी जाति संबंधी चुनौतियों से निपटने के लिए नये तरीक़े ढूँढ़े जा सकते हैं ... और दोनों के लिए गाँधी को फिर से पढ़ना काफ़ी मददगार हो सकता है। दरअसल, आम्बेडकर नहीं बल्कि गाँधी ही यह समझ सके थे कि परम्परा और आधुनिकता एक-दूसरे के उलट नहीं हैं और न ही एक-दूसरे को ख़ारिज करते हैं और इस तरह से जीवन की दोनों शैलियों में दलितों का शोषण और उनकी मुक्ति, दोनों मुमकिन है।